International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 07-02-2026, Accepted: 10-03-2026, Published: 27-03-2026
Volume 12, Issue 1, 2026, Page No. 251-252

समकालीन हिंदी उपन्यासों में चित्रित स्त्री जीवन

डॉ. पूनम कुमारी
एसोसिएट प्रोफेसर, डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम गवर्नमेंट, डिग्री कालेज, पठानचेरू, जिला संगारेड्डी, तेलंगाना, भारत

सारांश
यह शोध आलेख समकालीन हिंदी उपन्यासों में चित्रित स्त्री जीवन के विविध आयामों का विश्लेषण करता है। स्त्री विमर्श के परिप्रेक्ष्य में यह स्पष्ट किया गया है कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने स्त्री को सामाजिक, मानसिक और आर्थिक रूप से कैसे सीमित किया है। विभिन्न उपन्यासों की नायिकाओं के माध्यम से स्त्री के संघर्ष, आत्मसम्मान, अस्मिता की खोज तथा सामाजिक बंधनों से मुक्ति की आकांक्षा को दर्शाया गया है। आधुनिक स्त्री अपनी स्वतंत्र पहचान स्थापित करने और आर्थिक आत्मनिर्भरता प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर है। लेख यह भी स्पष्ट करता है कि भारतीय स्त्री विमर्श का उद्देश्य पुरुष के साथ समानता और सह–अस्तित्व स्थारपित करना है।

मूल शब्द: स्त्री विमर्श, पितृसत्तात्मक व्यवस्था, स्त्री अस्मिता, आत्मसंघर्ष, सामाजिक बंधन, आर्थिक स्वतंत्रता, स्त्री सशक्तिकरण, समकालीन हिंदी उपन्यास, नारी चेतना, लैंगिक समानता।

स्त्री विमर्श ने स्त्री–पाठ और स्त्रीवाद के ज्वलंत सवालों को समाज के सामने रखा है। स्त्री विमर्श ने ही स्त्री की स्थिति का स्पष्ट विवेचन किया है कि किस तरह पितृसत्तात्मक व्यवस्था स्त्री को दयनीय स्थिति में बनाकर रखती है। सत्री विमर्श ने पितृसत्तात्मक मूल्यों, मापदंडों, वर्जनाओं के बारे में अनेक सवाल उठाये हैं, जो स्त्री को वाणीहीन, आत्महीन, स्वत्वहीन अस्तित्व को अंकित करता है। स्त्री संघर्ष ने वास्तव में पितृसत्तात्मक व्यवस्था की वास्तविक तस्वीर को दिखाया है, जिसमें स्त्री को अनुकूलित करके शोषण के ढाँचे में ढालकर शोषित होने के लिए तैयार किया जाता है। सीमोन कहती है कि– "औरत को औरत होना सिखाया जाता है और बनी रहने के लिए उसे अनुकूल किया जाता है। तथ्यों के विश्लेषण से समझ में आयेगा कि प्रत्येक मादा मानव जीव अनिवार्यता एक औरत नहीं है, यदि वह औरत होना चाहती है, तो उसे औरत होने की रहस्यमय वास्तविकता से परिचित होना पड़ेगा।"[1] स्त्री की दोयम हीन अवस्था के लिए पितृसत्तात्मक सोच ही जिम्मेदार है।

चंद्रकांता के 'अपने अपने कोणार्क' उपन्यास की नायिका कुनी एक प्राध्यापिका है। पारंपरिक अंधविश्वासों में फंसी उसके लिए अपना जीवन साथी खोजना मुश्किल होता है क्योंकि उसकी जन्मकुंडली के योग के कारण उसे समय पर योग्य वर मिलना कठिन था। वह एक तरह से पराश्रित स्त्री थी। उसे अपने बारे में स्वयं निर्णय लेने की छूट नहीं थी। वह अपने परिवार के बड़े लोगों की जिम्मेदारी थी। अपने बारे में कुनी कहती है– "मैं बत्तीस बरसों से कई शापशरों से बिंधी रही हूँ। रक्षणशील परिवार में जन्म लेने का शाप, घर की बड़ी बेटी होने का शाप या शायद अपने यहाँ महज उम्रदराज लड़की होने का शाप ही काफी है अंधी खोहों में बंद होने के लिए।"[2] कुनी इस तरह के माहौल से बाहर निकलना चाहती है लेकिन वह कोई निर्णय ले तब तक समय बहुत आगे बढ़ता है और वह बहुत पीछे छूट जाती है। आगे कुनी अपना परिचय देते हुए कहती है कि– "मैं कुनी मिश्रा, श्रियुत सनातन मिश्र की बड़ी बेटी। रक्षणशील परिवार की सुशील सुगुणी कन्या, तब भी आज भी हूँ शायद मुझे बनाने वाले मेरे संस्कार, मेरा परिवार, मेरा परिवेश। माँ की खामोश सिखौवले, दीदी की प्यार भरी हिदायतें कहानियाँ, बप्पा की सुझायी लीक–लीक पगडंडियाँ जिनपर मुझे आँख मूदकर चलना था और मैं चलती रही, काफी देर तक। बोलना, मुँह खोलना मैंने नहीं सीखा क्योंकि इसकी गुंजाइश वहाँ थी या शायद किसी को अहसास ही नहीं था कि ऐसी गुंजाइश भी हो सकती है। मैं बोली जरूप पर दूसरों के लिए अपने लिए पहली बार मैं तब बोली थी जब प्रभा मौसी अनिरूद्ध से विवाह का प्रस्ताव लेकर आई भाई–भाभियों ने बिना मेरी राय जाने रद्द करना चाहा।"[3] अपनी जवानी के ढलते समय कुनी सिद्धार्थ नामक युवा से प्रेम करती है और उसे अपने सुख–दु:ख का सहभागी भी बनाती है। उसके साथ रहकर बहुत खुशी महसूस करती है। सिद्धार्थ आगे की पढ़ाई के लिए अमेरिका जाता है, तब कुनी की सभी योजनाएँ एक झटके में खत्म हो जाती है। पहले सिद्धार्थ के पत्र आते थे लेकिन बाद में वह सिलसिला भी धीरे–धीरे कम हो गया।

मधु कांकरिया कृत 'सेज पर संस्कृत' उपन्यास में स्त्री जीवन मूल्यों को दर्शाया है। उपन्यास की नायिका संघमित्रा सामाजिक विसंगतियों का प्रतिरोध इन शब्दों में करती है– "नहीं सर, मैं इस जिंदगी में लोट नहीं लगा सकती। मैं इस हवा–पानी की जीवन नहीं। यदि मैं आत्मविहीन हो गई, मेरा स्वाभिमान परिजित हो गया, गर्दन मरोड़ दी गई उसकी तो कितनी दूर जा पाऊँगी मै? जब जीवन ही हाथ से निकल जाए तो जीविका लेकर क्या करूँगी मैं?"[4] देखा जाए तो आज समाज में बलात्कार और अपहरण जैसी घटनाएँ आये दिन बढ़ने लगी हैं। वास्तव में स्त्री का पहला संकट अपनी अस्मिता को प्राप्त करने का है। आज के समाज को सभ्य और मानवीय बनाने के लिए मानवीय रूप को तैयार करना होगा। कृष्णा सोबती कृत 'सूरजमुखी अंधेरे के' में पीड़ित एक स्त्री के जीवन के आत्मसंघर्ष का मार्मिक चित्रण है। सत्ती अविवाहित स्त्री है, उसके जीवन में अनेक पुरुष आते हैं किंतु बचपन का शोषण उसके जीवन को अभिशप्त बनाता है और वह जीवन भर विद्रोह करती है। उसका विद्रोह पुरुष से मात्र नहीं अपनी मानसिक ग्रंथों से भी है। पुरुष का संपर्क और साहचर्य वह सहजरूप से चाहती है लेकिन अपनी हीनता का फायदा उठाने का अवसर किसी को नहीं देती है।

भारतीय स्त्री पुरुष से अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए संघर्ष तो करना ही पड़ता है किंतु वह पुरुष में अच्छा–बुरा दोनों पाती है और बुराई या उत्पीड़न को परंपरा का हिस्सा मानती है। स्त्री अपनी इस हीन दासत्व अवस्था के लिए पितृसत्तात्मक सोच को दोषी मानती है। भारतीय स्त्री के लिए उसका परिवार विशेष महत्व रखता है, परिवार की कीमत पर उसे स्वतंत्रता नहीं चाहिए। वह परिवार में रहकर स्वतंत्रता को पाने का प्रयास करती है। आज की स्त्री निर्णय लेने की शक्ति और आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहती है, क्योंकि यह वह मंत्र है, जिससे वह स्वयं को पुरुष के समकक्ष लाकर खड़ा कर सकती है। प्रभा खेतान के शब्दों में– "भारतीय स्त्री खुशी–खुशी समझौता कर लेती है। इसे वह जीवन जीने का एक तरीका मानती है। उसकी इसी क्षमता

के कारण भारत में स्त्री की हैसियत में जो परिवर्तन आया है, उससे वह पुरुषों से सहयोग ले सकी है। समस्याओं को केवल स्त्री का मुद्दा न मानकर उन्हें अन्य व्यापक मुद्दों के साथ जोड़ना संभव हुआ है।"[5] यही अंतर पश्चिमी स्त्रीवाद और भारतीय स्त्रीवाद में है कि भारतीय स्त्री अपने अधिकार की लड़ाई गरमजोशी से न करते हुए नरमजोशी का रूख अपनाते हुए दिखाई देती है। डॉ. उषा यादव के शब्दों में– "आज का युगीन यथार्थ भी यही है कि ज्यों–ज्यों आदमी के पास भौतिक सुख–सुविधाएँ बढ़ रही हैं त्यों–त्यों उसके मन का सुख, उसकी आत्मा की शांति विलीन होती जा रही है। आदमी की यही उदासी, उब, अकेलापन और घुटन संवेदनशील कथा लेखिका उषा प्रियवंदा के उपन्यासों में बड़ी भावप्रवण शैली में व्यक्त हुई है।"[6] उषा पियवंदा कृत उपन्यास 'पचपन खंभे लाल दीवारें' की नायिका सुषमा आधुनिक स्त्री के आत्मसंघर्ष का प्रतिनिधित्व करती है। वह एक सुंदर शिक्षित स्त्री है। वह कालेज में एक महत्वपूर्ण पद पर कार्यरत है, लेकिन अकेलापन की अनुभूति उसे व्यथित करती है। सुषमा के चारों ओर दीवारे खड़ी हैं। दायित्व, परिवार, पद और गरिमा की और शायद भीतरी कुंठा की भी। उसे स्वयं न चाहते हुए भी पूरी जिम्मेदारियों को वहन करना पड़ता है। उसके जीवन में जो कुछ मिला है, उसे वह स्वीकार नहीं करती है। जीवन उसे नीरस और अर्थहीन प्रतीत होता है और अजनबीपन का बोध उसकी चेतना को जकड़ता है। इस तरह सुषमा पारिवारिक जिम्मेदारियों के निर्वाह के लिए संघर्ष करती रहती है। इस निराशपूर्ण जीवन से सुषमा अपनी दोस्त मीनाक्षी से कहती है कि– "आज से सोलह साल बाद शायद तुम अपनी बेटी को लेकर अचल।"[7] परिवार का पूरा बोझ उसके ऊपर है। सुषमा आज की उन लड़कियों का प्रतिनिधि करती है, जो घरेलू समस्याओं की भट्टी में जलकर अपने विवाह की आयु गंवाती है। भारतीय परिवार में पिता की अनुपस्थिति में घर की जिम्मेदारी मुख्य रूप से बेटे पर आती है। घर की आर्थिक स्थिति दयनीय होने पर भी बेटा ही पिता का सहायक बनता है किंतु बदलती परिस्थितियों में इस धारणा में बदलाव आया है। आधुनिक परिवार में बेटा–बेटी में असमनाता का भाव कमजोर पड़ता जा रहा है। घर की आर्थिक स्थिति का दायित्व एक ही सदस्य पर नहीं है। बेटे के साथ बेटी भी भागीदार बन रही है। विशेष कर ऐसी स्थिति में जब घर में कोई पुरुष जिम्मेदारी संभालने में असमर्थ हो, तब लड़की परंपरागत मूल्य त्यागकर नयी भूमिका निभा रही है। इस उपन्यास में उस परिवार की सबसे बड़ी लड़की सुषमा है। घर में माँ का शासन ही चलता है और पिता पक्षाघात से पीड़ित है। इसलिए इस परिवार की सारी जिम्मेदारी मुख्य रूप से सुषमा पर आती है। उसे दो बहनें और दो भाई हैं। इन सबकी शिक्षा, उनके भविष्य का उत्तरदायित्व सुषमा पर ही आता है। वह कहती है कि– "मैं जो करती हूँ, कर्तव्य समझकर नहीं मौसी उनके प्यार में करती हूँ। मेरा तो मन होता है कि मेरे पास अगर और कुछ होता तो और भी करती।"[8] इसलिए वह अविवाहित ही रह जाती है। उसके मन में न तो प्रेमी की आकांक्षा है और न पति की। वह पारिवारिक दायित्व के कारण विवाह नहीं करती है। वह अपनी प्रेमी नील से कहती है कि– "पहली बात तो नील यह है कि मेरी बहुत जिम्मेदारियाँ हैं। तुमसे कुछ तो छिपा नहीं है। पक्षाघात से पीड़ित बाबू, दो बहने और दो भाई, सब मुझे ही करना है।"[9] इस तरह इस उपन्यास में अविवाहित अध्यापिका सुषमा के जीवन की कुंठा और घुटन अभिव्यक्त है।

'समय सरगम' उपन्यास की नायिका आरण्या को अनेक तरह के संघर्षों को सहना पड़ा। आरण्या अकेली स्त्री है। आरण्या उम्र से बूढ़ी अवश्य है किंतु मन से नहीं। वह अपना जीवन व्यस्त रखना चाहती है। एकेलापन, मृत्यु, पैशन और पारिवारिक परेशानियों की बातें करनेवाली बूढ़ी पीढ़ी के लोगों से वह बिल्कुल अलग है। वह कहती है कि– "संतुष्ट हूँ कि जीवित हूँ। आरण्या मृत्यु से डरती नहीं है बल्कि उसे जीवन के अनिवार्य यथार्थ के रूप में लेती है। वक्त है। अंतिम पड़ाववाली भूमिका कभी भी पास आ खड़ी हो सकती है। होगी। उसे होना है सबकी होती है।"[10] इस उपन्यास की दूसरी एक पात्र इशान है, वह आरण्या की पड़ोसी और मित्र है। दयमंती इशान की मित्र है। एक दिन आरण्या ने दोनों मित्रों को अपने घर आमंत्रित किया। दयमंति अपनी जवानी में एक सुंदर युवती है। पति की मृति के बाद वह अकेली रहती है। उसका यह अकेलापन एक बोझ की तरह है। आरण्या से उसने अपने मन की बातें कहती है– "मैं तुम्हारी तरह अकेली होती तो क्या परेशान होती। आरण्या मैं बहुत दुखी हूँ।"[11] इस उपन्यास में अकेलापन से जीवन में संघर्ष करती हुई स्त्रियाँ दिखाई देती है। नायिका आरण्या एक सशक्त स्त्री पात्र है और वह आजीवन अकेली ही रहती है।

उषा प्रियवंदा कृत 'रूकेगी नहीं राधिका' उपन्यास में आत्मसंघर्ष का ज्वलंत उदाहरण है। राधिका स्वतंत्र व्यक्तित्व की लड़की है। वह जीवन में हर स्तर पर स्वाधीनता चाहती है लेकिन इस दिशा में सबसे पहला आघात उसे अपने पापा से ही मिलता है। विदेशी पत्रकार डैन के साथ विवाह कर विदेश जाना चाहती है लेकिन पापा मना करते है। पापा की बात वह अस्वीकार तो करती है परंतु उसके भीतर निरंतर संघर्ष चलता है। राधिका के व्यक्तित्व का पक्ष मानसिक जटिलता के कारण संकुचित होता है। माता की मृत्यु के बाद पिता के संरक्षण में उसका बचपन बीतता है। वह पिता का प्यार एकनिष्ठ रूप में पाती है और अपनी एकनिष्ठ स्थिति में वह पिता पर एकाधिकार प्राप्त करती है। पिता के एकनिष्ठ सामीप्य के कारण मानसिक संघर्ष से वह पीड़ित है। प्रायरू देखा जाता है कि जो लड़कियाँ मानसिक संघर्ष से पीड़ित हैं वह विवाह कर सुखी जीवन नहीं बिता पाती है। राधिका भी इसी मनोग्रंथी से पीड़ित होने के कारण जीवन में सुखी नहीं रह पाती है। मैत्रेयी पुष्पा कृत 'चाक' उपन्यास की पात्र रेशम विधवा स्त्री है। वह आकस्मिक रूप में विधवा हो जाती है। परिवार और समाज के बनाए गए नियमों के तहत ही वह जीवन जीती है। लेखिका के शब्दों में– "रेशम विधवा थी – जमाने के लिए, रीति–रिवाजों के लिए, शास्त्रों–पुराणों के चलते घर और गाँव के लिए। विधवा सिर्फ विधवा होती है। वह और नहीं रहती फिर। यह बात पता नहीं उसे किसी ने समझाई कि नहीं? किसी ने कहा नहीं कि इच्छाओं के रेशमी तारों में आग लाग दे रेशम?"[12] लेखिका ने विधवा स्त्री की व्यथा, पीड़ा को दर्शाया है। लेखिका ने विधवा स्त्री की समस्या को मार्मिक और सहानुभूति के साथ व्यक्त किया है।

अतः वर्तमान में सामाजिक क्षेत्र में स्त्री को पुरुष सहयोग देने लगा है और वे स्त्री के पक्षधर होने लगे हैं। भारतीय स्त्री विमर्श का लक्ष्य पुरुष से युद्ध करना नहीं बल्कि उसे संवेदनशील बनाना है।

संदर्भ सुची

1. सीमोन द बोउवार – स्त्री उपेक्षिता, पृ. 23
2. चंद्रकांता – अपने–अपने कोणार्क, पृ. 11
3. वही, पृ. 21
4. मधु कांकरिया – सेज पर संस्कृत, पृ.सं. 159
5. प्रभा खेतान– प्रगतिशील वसुधा– 78, जुलाई–सितम्बर 2008, पृ. 47
6. डॉ. उषा यादव – हिंदी की महिला उपन्यासकारों की अमानवीय संवेदना, पृ. 77
7. उषा प्रियवंदा – पचपन खंभे लाल दीवारें, पृ. 100
8. वही, पृ. 11
9. वही, पृ. 10
10. कृष्णा सोबती – समय सरगम, पृ. 8
11. वही, पृ. पृ. 82
12. मैत्रेयी पुष्पा – चाक, पृ.सं. 18